

**प्रश्न :** मन का कार्य विचार करना है। मैंने कई वर्ष उन चीजों के बारे में सोचते हुए बिताए हैं जिन्हें हम सब जानते हैं--व्यापार, विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, कलाएं आदि--तथा अब मैं ईश्वर के बारे में काफी कुछ विचार करता हूं। अनेक रहस्यदर्शियों तथा धार्मिक ग्रंथकारों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों का अध्ययन करने से मैं कायल हो गया हूं कि ईश्वर है, तथा मैं इस विषय में अपने विचारों का योगदान दे सकता हूं। इसमें गलत क्या है? क्या ईश्वर के बारे में विचार करने से ईश्वर के साक्षात्कार में सहायता नहीं मिलती है?

**कृष्णमूर्ति :** क्या आप ईश्वर के बारे में विचार कर सकते हैं? क्या आप ईश्वर की मौजूदगी के बारे में इस वजह से कायल हो सकते हैं कि आपने सारे प्रमाण पढ़ डाले हैं? अनीश्वरवादी के पास भी अपने प्रमाण हैं, वह भी संभवतः उतना ही पढ़ चुका है जितना कि आप, और उसका कहना है कि ईश्वर नहीं है। आप विश्वास करते हैं कि ईश्वर है और वह विश्वास करता है कि ईश्वर नहीं है, आप दोनों के अपने विश्वास हैं, तथा आप दोनों ने ही ईश्वर के बारे में विचार करने में अपना समय खर्च किया है। परंतु जिसके विषय में आप जानते नहीं हैं, उसके विषय में विचार करने से पहले आपको यह पता लगाना होगा कि विचार करना होता क्या है। जिसे आप जानते नहीं हैं, उसके बारे में आप विचार कैसे कर सकते हैं? आपने बाइबल, भगवद्गीता या अन्य ग्रंथ पढ़े होंगे, जिनमें विभिन्न बहुश्रुत विद्वानों ने खंडन-मंडन करते हुए कौशल सहित वर्णन किया है कि ईश्वर क्या है, परंतु जब तक आप अपनी विचार की प्रक्रिया को नहीं समझ लेते, तब तक आप ईश्वर के बारे में जो भी सोचते हैं, हो सकता है वह मूर्खतापूर्ण तथा क्षुद्र ही हो, सामान्यतया होता यही है। आप ईश्वर के अस्तित्व के बारे में ढेर सारे प्रमाण एकत्रित कर सकते हैं, और इस बारे में बड़े चतुराई भरे लेख भी लिख सकते हैं, पर निश्चित ही पहला सवाल यह उठता है कि आपको कैसे मालूम कि जो आप सोच रहे हैं वह सच है? और क्या विचार करने से कभी भी उसकी अनुभूति हो सकती है, जो अविज्ञेय है? जिसका मतलब यह नहीं है कि आपको भावुकता के वशीभूत होकर ईश्वर के विषय में कुछ भी अनाप-शनाप स्वीकार कर लेना चाहिए।

अतः जो संस्कार के पार है उसकी तलाश करने की अपेक्षा क्या यह पता लगाना महत्वपूर्ण नहीं है कि हमारा मन संस्कारग्रस्त है या नहीं। यह निश्चित है कि यदि आपका मन संस्कारों से ग्रसित है, जो कि यह वस्तुतः है, तो यह ईश्वर के यथार्थ की चाहे जितनी छान-बीन कर लें, यह अपनी संस्कारबद्धता के मुताबिक ही जानकारी या सूचना एकत्रित कर पाएगा। अतः आपका ईश्वर के बारे में विचार करना समय का नितांत अपव्यय है, यह एक ऐसी अटकलबाजी है जिसकी कोई कीमत नहीं है। यदि मैं वास्तव में पता लगाना चाहता हूं कि पर्वत के शिखर पर और उसके पार क्या है, तो मुझे उस तक जाना होगा। इससे कुछ हासिल होने वाला नहीं है कि मैं बैठे-बैठे अटकलें लगाया करूं, मंदिर, गिरजे खड़े कर लूं और उनके संदर्भ में उत्तेजित होता रहूं। करना मुझे यह होगा कि मैं उठ कर चल पड़ूं, राह बनाऊं, आगे बढ़ूं, वहां पहुंचूं और पता लगा लूं; लेकिन चूंकि हममें से अधिकतर ऐसा करने के अनिच्छुक हैं, हम इसीसे संतुष्ट हो लिया करते हैं कि यहां बैठे रहें और किसी ऐसी बात के बारे में अनुमान लगाते रहें जिसे हम जानते ही नहीं हैं। और मेरा कहना है कि इस तरह का अनुमान एक बाधा है, मन का क्षरण है। इसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यह मनुष्य के लिए केवल और विभ्रम, और दुख लाता है।

तो ईश्वर ऐसा कुछ है, जिसके बारे में बातें नहीं की जा सकतीं, जिसका वर्णन नहीं हो सकता, जिसे शब्दों में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसे सदैव अज्ञात ही रहना है। जिस पल पहचान लेने की प्रक्रिया घटित होती है, आप स्मृति के क्षेत्र में लौट आते हैं। क्या आप समझ रहे हैं? जैसे कि उदाहरण के लिए आपको किसी असाधारणता की क्षणिक अनुभूति होती है। ठीक उसी क्षण में कोई विचारक नहीं होता जो यह कह रहा हो, 'मुझे इसे याद रखना होगा'; उस समय तो मात्र अनुभूति की वह अवस्था होती है। पर

जब वह क्षण बीत जाता है तो पहचान की प्रक्रिया अस्तित्व में आती है। इस बात को ज़रा समझें। मन यह कहता है, “मुझे एक अद्भुत अनुभव हुआ है और मेरी कामना है यह अनुभव मुझे और हो”, इसलिए और अधिक का संघर्ष आरंभ हो जाता है। यह परिग्रह-प्रवृत्ति, और-और के स्वामित्व की यह दौड़ विभिन्न कारणों से वजूद में आती है : क्योंकि इससे आपको सुख मिलता है, प्रतिष्ठा मिलती है, आप जानकार हो जाते हैं, प्रमाण-पुरुष बन जाते हैं तथा इसी तरह की बाकी निरर्थकताएं।

मन जिसका अनुभव कर चुका होता है, उसके पीछे भागता है, किंतु जिसका उसने अनुभव किया है, वह तो निबट चुका है, मर चुका है, जा चुका है, और जो है, उसका अन्वेषण करने हेतु मन को उसके प्रति मर जाना होगा जिसका वह अनुभव कर चुका है। यह ऐसा कुछ नहीं है जिसे रोज़-रोज़ अभ्यास द्वारा पोषित किया जा सके, जिसे एकत्रित व संचित करके कायम रखा जा सके और तब इसके बारे में बोला या लिखा जा सके। हम मात्र इतना कर सकते हैं कि यह देखें कि हमारा मन संस्कारबद्ध है और स्वयं को जानने के माध्यम से अपनी ही विचार करने की प्रक्रिया को समझ लें। मुझे अपने आपको जानना ही चाहिए, उस रूप में नहीं जैसा कि मैं आदर्शतः होना पसंद करूंगा, बल्कि जैसा कि मैं वस्तुतः हूँ, चाहे जितना असुंदर या सुंदर, चाहे जितना ईर्ष्यालु, डाह भरा और लोभी-परिग्रही। लेकिन हम जैसे भी हैं, उसे बिना उत्कंठा के, बस देख पाना बहुत मुश्किल होता है और उसे बदलने की उत्कंठा, वह चाहत संस्कारबद्धता का ही एक अन्य रूप होती है; और इस तरह हम चलते जाते हैं, एक संस्कारग्रस्तता से दूसरी संस्कारग्रस्तता की ओर, एवं उसकी अनुभूति हमें कभी नहीं होती, जो ससीम के पार है।

**प्रश्न :** मैं आपको कई वर्षों से सुन रहा हूँ तथा मैं अपने विचारों को देखने में तथा जो भी मैं कर रहा होता हूँ, उसके प्रति सजग रहने में काफी दक्ष हो गया हूँ, लेकिन मैं गहरे पानी में कभी नहीं पैठ पाया हूँ, जिस रूपांतरण की आप बात किया करते हैं, उसका अनुभव कभी नहीं कर पाया हूँ। ऐसा क्यों है?

**कृष्णमूर्ति :** मेरे ख्याल से यह बात काफी स्पष्ट है कि हममें से कोई भी मात्र अवलोकन से परे का अनुभव क्यों नहीं कर पाता है। भावदशा के कुछ विरल क्षण हो सकते हैं, जिनमें हमें मानो मेघों के बीच विमल आकाश दिख जाए, किंतु मेरा अभिप्राय उस प्रकार की घटना से नहीं है। ऐसे सभी अनुभव अस्थायी तथा नितान्त अल्प महत्त्व के होते हैं। प्रश्नकर्ता जानना चाहता है कि ऐसा क्यों है कि अवलोकन करते रहने के कई वर्षों के उपरांत भी उसे गहरा पानी अभी नहीं मिल पाया है, जिसमें वह प्रवेश कर सके। वह उसे क्यों मिलना चाहिए? आप समझ रहे हैं? आप सोचते हैं कि अपने विचारों का अवलोकन करने से आपको कोई पुरस्कार उपलब्ध होने वाला है : यदि आप यह करेंगे, तो आपको वह मिलेगा। आप वस्तुतः अवलोकन कर ही नहीं रहे हैं, क्योंकि आपका मन कोई उपलब्धि हासिल कर लेने की फिराक में है। आप सोचते हैं कि अवलोकन करते रहने से, सजग बने रहने से आप अधिक प्रेमपूर्ण हो जाएंगे, कम दुःख उठाएंगे, कम खीजा करेंगे, कहीं उस पार पहुंचना हो जाएगा, तो आपका देखना, अवलोकन करना खरीद-फरोख्त की एक प्रक्रिया है। ‘इस’ सिक्के से आप ‘उस’ को खरीद रहे हैं, जिसका अर्थ है कि आपका देखना चयन की प्रक्रिया है अतएव यह देखना नहीं है, अवधान नहीं है। देखने का अभिप्राय है बिना चयन के अवलोकन करना, बदल जाने की इच्छा की किसी भी गतिविधि के बिना स्वयं को ठीक वैसा ही देखना जैसे कि आप हैं, जो कर पाना अत्यंत दुष्कर है; पर इसका मतलब यह भी नहीं कि आप वैसे ही बने रहेंगे जिस स्थिति में आप अब हैं। आप जानते नहीं हैं कि उस स्थिति में क्या होगा, जब आप कोई परिवर्तन लाने की चाह के बिना स्वयं को वैसा ही देख पाते हैं जैसे कि आप हैं। समझ रहे हैं न?

मैं एक मिसाल लेता हूँ, फिर उसकी तफसील में जाते हैं और बात आपको साफ हो जाएगी। मान लीजिए मैं हिंसक हूँ, जैसे कि अधिकतर लोग हैं। हमारी संस्कृति हिंसक है, लेकिन मैं इस समय हिंसा की संरचना का विषय नहीं लूंगा, क्योंकि हम अभी उस समस्या पर गौर नहीं कर रहे हैं। तो मैं हिंसक हूँ, और मुझे इस बात का एहसास होता है कि मैं हिंसक हूँ। तब क्या होता है? मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया यह होती है कि मुझे इस बारे में कुछ करना चाहिए, है न? मैं कहता हूँ कि मुझे अहिंसक बनना चाहिए। तो मैं अभ्यास करने लगता हूँ, सब तरह के आदर्शवादी कामों में लग जाता हूँ, पर अब मैं यह देख पाता हूँ कि स्थिति कितनी असंगत है, क्योंकि वह सत्ता जो हिंसा का अवलोकन कर रही है और उसे अहिंसा में परिवर्तित करना चाहती है, अभी भी हिंसक ही है। तो अब मेरा सरोकार उस सत्ता की, उस व्यक्ति की अभिव्यक्ति से नहीं, अपितु स्वयं उस सत्ता से है। मुझे आशा है आप यह सब समझ पा रहे हैं।

अब वह सत्ता कौन है, वह हस्ती कौन है जो कहती है, “मुझे हिंसक नहीं होना चाहिए”? क्या वह सत्ता उस हिंसा से भिन्न है जिसका वह अवलोकन कर रही है? क्या वे दो भिन्न अवस्थाएं हैं? आप समझ रहे हैं इसे, या फिर यह कुछ अधिक ही अमूर्त है? हम इस वार्ता की समाप्ति के निकट आ रहे हैं, और आप शायद थोड़ा थक गए हैं। निश्चित ही “मुझे हिंसा को अहिंसा में बदलना होगा”, ऐसा कहने वाली हस्ती और हिंसा, दोनों एक ही हैं। इस तथ्य की पहचान कर लेना समस्त द्वंद की समाप्ति है, है कि नहीं? तब परिवर्तन के प्रयास का अंतर्द्वंद नहीं रहता, क्योंकि मैं देख लेता हूँ कि मन की हिंसक न होने की गतिविधि हिंसा का परिणाम ही है।

तो प्रश्नकर्ता जानना चाहता है कि ऐसा क्यों है कि वह मन के इन सब सतही बखेड़ों के परे नहीं जा पा रहा है। कारण सीधा सा है कि चेतन या अचेतन रूप से मन कुछ न कुछ तलाशता रहता है, और यही तलाश हिंसा, प्रतिस्पर्द्धा तथा नितांत असंतुष्टि के एहसास का कारण बनती है। केवल तभी, जब मन पूर्णतः निश्चल होता है, गहरे पानी में पैठने की संभावना बनती है।

**प्रश्न :** जब हम मरते हैं तो क्या हमारा इस धरती पर पुनर्जन्म होता है अथवा हम किसी और जगत में चले जाते हैं?

**कृष्णमूर्ति :** यह प्रश्न हम सब की रुचि का है, युवा हो या वृद्ध, है न? तो मैं इस विषय में काफी गहराई से जाऊंगा और उम्मीद है आप भी इसे भली-भांति समझेंगे, केवल शब्द नहीं, बल्कि वह वास्तविक अनुभव जिसकी चर्चा मैं आपके साथ करने जा रहा हूँ।

हम सब जानते हैं कि मृत्यु होती है, विशेष रूप से वृद्ध लोग और युवा भी जो कि इसे घटित होता देखते हैं। जो युवा हैं, वे कहते हैं, “अभी इसे छोड़ो, जब आएगी तब निबट लेंगे”; और बूढ़े तो चूँकि मृत्यु के करीब ही आते जा रहे हैं, इसलिए उन्होंने सात्वना के विविध प्रकारों का आश्रय ले लिया है।

आपका ईश्वर में विश्वास है, आपका भरोसा कयामत के दिन फिर से जी उठने में अथवा कर्म तथा पुनर्जन्म में है; आप कहते हैं कि आपका यहीं या किसी और दुनिया में फिर जन्म होने वाला है या आप मृत्यु को तर्कसंगत बनाते हैं, कहते हैं कि मृत्यु अवश्यंभावी है, यह हर किसी को घटित होती है; वृक्ष सूखता-ढहता है, मिट्टी को पोषण देता है और एक नया वृक्ष फिर वहां होता है। या फिर आप रोज़ की अपनी परेशानियों, चिंताओं, ईर्ष्या-द्वेष में, अपनी प्रतिस्पर्द्धा में, अपनी धन-दौलत में इस कदर उलझे होते

हैं कि मृत्यु के बारे में आप सोचते ही नहीं हैं। लेकिन यह आपके मन में कहीं होती तो है, चेतन या अचेतन रूप से इसका रहस्य बना रहता है।

सर्वप्रथम, मृत्यु के संदर्भ में आप जो विश्वास, तर्कसंगत व्याख्याएं या उदासीनभाव पोषित करते रहे हैं, क्या आप उनसे मुक्त हो सकते हैं? क्या आप उस सबसे अभी मुक्त हो सकते हैं? क्योंकि महत्त्व इस बात का है कि आप जीते जी, जब आप पूर्ण चैतन्य, सक्रिय, स्वस्थ हों, मृत्यु के घर में प्रवेश करें, और मृत्यु के आने की प्रतीक्षा न करें, जो आपको किसी दुर्घटना के निमित्त तत्काल उठा ले या किसी बीमारी के ज़रिये जिसमें आप धीरे-धीरे होश खोते चले जाएं। जब मृत्यु आती है, तो वह एक असाधारण क्षण ही होगा, उतना ही जीवंत, जैसा कि जीवन है।

तो क्या मैं, क्या आप जीते जी मृत्यु के घर में प्रवेश कर सकते हैं? समस्या यह है, यह नहीं कि पुनर्जन्म होता है या नहीं, अथवा क्या कोई दूसरा लोक है या नहीं है जिसमें आप फिर पैदा हो जाने वाले हैं, ये सब तो एकदम अपरिपक्व, बिलकुल बचकानी बातें हैं। वह व्यक्ति जो जी रहा है कभी नहीं पूछता कि जीना क्या होता है, उसके पास जीने के विषय में धारणाएं-परिकल्पनाएं नहीं होतीं। ये तो केवल अर्द्ध-जीवित लोग ही हैं, जो जीवन के उद्देश्य के बारे में बतियाया करते हैं।

अतः, क्या आप और मैं, जीते जी, होश और सक्रियता के रहते, जो भी हमारी क्षमताएं हैं उनके रहते, जान सकते हैं कि मृत्यु क्या है? और तब मृत्यु क्या जीवन से विलग है? हममें से अधिकतर के लिए जीना उसकी निरंतरता है जिसे हमने स्थायी समझा हुआ है। हमारा नाम, हमारा परिवार, हमारी सम्पत्ति, वे चीजें जिनसे हमारे आर्थिक या आध्यात्मिक स्वार्थ जुड़े हैं, वे सद्गुण जिन्हें हम पोषित करते रहे हैं, वह सब जो हमने भावनात्मक रूप से अर्जित कर लिया है--यही सारा कुछ है जिसकी निरंतरता हम चाहते हैं, और जिस क्षण को हम मृत्यु कहते हैं, वह अज्ञात का क्षण है। इसीलिए हम भयभीत हैं, अतः हम किसी प्रकार की सांत्वना, किसी तरह की राहत खोजने की कोशिश करते हैं; क्या मृत्यु के उपरांत कोई जीवन है और ऐसी ही बीसियों बातें हम जानना चाहते हैं। ये सब अप्रासंगिक समस्याएं हैं, आलसियों की समस्याएं हैं, ये उनके लिए हैं जिनकी यह मालूम करने की तैयारी नहीं है कि जीवित रहते हुए मृत्यु क्या होती है। तो क्या आप और मैं इसका पता लगा सकते हैं?

मृत्यु क्या है? यह उस सबकी संपूर्ण समाप्ति है जो आपको ज्ञात है। जो भी आपने जाना है यदि यह उसकी संपूर्ण समाप्ति नहीं है तो यह मृत्यु नहीं है। यदि आप मृत्यु को पहले से जानते हैं तो इसमें आपके लिए डरने जैसा कुछ नहीं है। पर क्या आप मृत्यु को जानते हैं? जो अनित्य है, उसमें निरंतरता तलाशते रहने के इस अंतहीन संघर्ष का क्या आप जीवित रहते हुए ही अंत कर सकते हैं? उस अविज्ञेय को, उस अवस्था को जिसे मृत्यु कहते हैं, क्या आप जीवन जीते हुए ही जान सकते हैं? जिन्हें आपने पुस्तकों में पढ़ रखा है या राहत पाने की आपकी अचेतन इच्छा ने जिन्हें निर्दिष्ट किया है, क्या आप उन सारे विवरणों को परे हटा सकते हैं कि मृत्यु के बाद होता क्या है, और उस अवस्था का स्वाद अभी ले सकते हैं, उसे अभी अनुभूत कर सकते हैं, जो अवस्था असाधारण ही होगी? यदि उस अवस्था की अनुभूति हो सके, तो जीना और मरना फिर एक ही है।

तो क्या मैं, जिसके पास विशद शिक्षा है, ज्ञान है, जिसने अनगिनत अनुभव व संघर्ष किए हैं, प्यार किए हैं, नफरतें की हैं--क्या यह 'मैं' समाप्त हो सकता है? यह 'मैं' उस सब कुछ की अंकित स्मृति ही है; और क्या इस 'मैं' का अंत हो सकता है? किसी दुर्घटना या बीमारी से अंत को प्राप्त हुए बिना, क्या आप और

में अभी, जबकि हम यहां बैठे हुए हैं, उस अंत को जान सकते हैं? तब आपको स्पष्ट होगा कि आप मृत्यु और निरंतरता के बारे में, परलोक के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न अब और नहीं पूछ पा रहे हैं। तब आप उत्तर स्वयं ही जान जाएंगे, क्योंकि वह जो अविज्ञेय है, अस्तित्व में आ चुका होगा। तब आप पुनर्जन्म की सारी अंट-शंट को विदा कर देंगे, और आपके अनेकानेक भय--जीने का भय और मरने का भय, बूढ़े हो जाने और औरों को अपनी देखभाल की परेशानी में डालने का भय, अकेलेपन का, किसी पर आश्रित हो जाने का भय--ये सभी समाप्त हो जाएंगे। ये वृथा शब्द नहीं हैं। केवल तभी, जब मन अपनी निरंतरता के गणित में सोचना बंद कर देता है, उस अविज्ञेय का आविर्भाव होता है।

**ओहाइ] 21 अगस्त 1955**